

किये जाते हैं। जिन बातों में दुनियादार आदमी बड़ा सुख मानता है, वे उसे तुच्छ प्रतीत होती है और संसार जिधर आँख उठाकर भी नहीं देखता, वे बातें उसे अत्यन्त महत्वपूर्ण जँचती है। ऐसी दशा में दुनियाँ उसे सोई हुई मालूम पड़ती है और दुनिया को वह सोया हुआ मालूम पड़ता है।

यदि आप तुरीय अवस्था का, समाधि का रसास्वादन करना चाहते हैं, तो विकारी मन की कोई भी हलचल आपके निकट दृष्टिगोचर न हो। हर कार्य में पवित्रता, सफाई, ईमानदारी, मुहब्बत, नेक नीयति, उदारता, भलमनसाहत, सेवा का पुट रहना चाहिए। जो भी सोचें, जो भी करें, इसी दृष्टिकोण से करें, यही अपनी मर्यादा रहे, इस क्षेत्र से बाहर कदम न पड़ने पावे। सात्त्विक मन का आदेश ही सिर आँखों पर रहे, ईश्वरी आङ्गाओं के आगे ही अपना सिर झुके। शैतान का कोई भी प्रलोभन आपको कुम्हला न सके, गिरा न सके। व्यावहारिक जीवन की यही समाधि है। आपका शरीर और मस्तिष्क जितने अंशों में इस मर्यादा में आबद्ध हो जाए, समझ ले कि उतने अंशों में आपको समाधि प्राप्त हो गयी। दिन-दिन अधिक उन्नति करते चलिए, दोषों को अधिक सावधानी से सुधारते रहिए, धीरे-धीरे एक दिन आप पूर्ण समाधि का रसास्वादन करेंगे। जब आपका अन्तःकरण सतोगुण से लबालब भर जायेगा तो वह अमृत घट से भी अधिक आपको शान्तिदायक अनुभव होगा।

परमात्मा सत् चित् आनन्द स्वरूप है। अपने को आप सत्यमय, चैतन्य, प्रसन्नचित्त बनाइये, यह बातें जितनी ही बढ़ती हैं, उतना ही परमात्मा का तेज आप में बढ़ता है। जब पूर्ण रूप से यह गुण आप में भर जाएँगे तो आप पूर्ण रूप से परमात्मा हो जाएँगे। यह परमपद है, इसी को मुक्ति कहते हैं, पूर्ण समाधि, तुरीयावस्था, ब्रह्म प्राप्ति, प्रभु साक्षिध्य यही है। जीव का चरम लक्ष्य यही है, योगी लोग इसी के लिए नाना विधि जप-तप करते हैं। समस्त साधनाएँ इसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए बनाई गयी हैं।

(विशेष जानकारी के लिए पू० आचार्य जी द्वारा लिखित –

१. पातञ्जलि योग का तत्त्वदर्शन
२. यम-नियम,
३. आसन-प्राणायाम,
४. प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि पुस्तक का अवलोकन करें।)

॥ द्वितीय अध्याय ॥

प्राकृतिक चिकित्सा

प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्त

मानव शरीर में स्वाभाविक रूप से एक ऐसी प्रकृतिदत्त प्रवृत्ति पाई जाती है, जो सदैव बाहरी और भीतरी हानिकारक प्रभावों से उसकी रक्षा करती रहती है। शरीर-विज्ञान के ज्ञाता जिसको 'नियमितता रखने वाला संयंत्र' कहते हैं और साधारण लोग जिसे 'जीवनी शक्ति' के नाम से पुकारते हैं, वही शक्ति सब प्रकार के रोगों के कारणों को स्वयमेव दूर करती रहती है। वह निरन्तर शरीर का पुनः निर्माण करती रहती है और जो कुछ दूट-फूट हो जाती है उसकी मरम्मत का भी ध्यान रखती है। साथ ही शरीर के भीतर जो अस्वाभाविक तत्व पैदा हो जाता है या बाहर से पहुँचता है उसे निकालने का भी प्रयत्न करती रहती है।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि रोग मनुष्य के लिए एक अस्वाभाविक अवस्था है। जब वह असावधानी से या गलती से प्रकृति विरुद्ध मार्ग पर चलने लगता है तो उसके शरीर में विजातीय द्रव्य की मात्रा बढ़ने लगती है, जिसके फलस्वरूप देह में तरह-तरह के विष उत्पन्न होने लगते हैं और वातावरण में पाये जाने वाले हानिकारक कीटाणुओं का भी उस पर आक्रमण होने लगता है। इससे शरीर का पोषण और सफाई करने वाले यंत्र निर्बल पड़ने लगते हैं, उनके कार्य में त्रुटि होने लगती है और मनुष्य रोगी हो जाता है।

प्रकृति विरुद्ध रहन-सहन का कुप्रभाव

वैसे ये विकार मानव देह में सामान्य परिमाण में सदैव उत्पन्न होते रहते हैं और प्रकृति मल, मूत्र, पसीना तथा साँस द्वारा उनकी सफाई करती रहती है। पर जब अनुचित आहार-विहार के कारण वे असाधारण रूप में बढ़ जाते हैं, तब हमारे सामने एक समस्या खड़ी हो जाती है और हम किसी प्रकार उनसे उत्पन्न होने वाले कष से बचने की चेष्टा करने लगते हैं। प्राचीन युग में तो जब मनुष्य प्रकृति के अनुकूल चलते थे और कृत्रिम उपायों की बहुत थोड़ी वृद्धि हुई थी, ऐसी अवस्था में लंघन (उपवास), सेकना, मालिश, जलोपचार, पेड़ों के पत्ते आदि बाँधना या आसपास में पाई जाने वाली किसी जड़ी-बूटी का प्रयोग करना

जैसे साधारण उपायों से ही काम चलाया जाता था और रोग धीरे—धीरे स्वाभाविक रूप में ठीक हो जाता था; पर जब से औषधि विज्ञान की वृद्धि हुई और पाश्चर आदि वैज्ञानिकों ने कीटाणु-विज्ञान (जर्मस् के सिद्धान्त) का हौवा खड़ा कर दिया, तब से एक तरफ दवाओं की भरमार और दूसरी तरफ रोगों की दिन-दूनी रात चौगुनी वृद्धि हो रही है। लोग आश्चर्य के साथ देख रहे हैं कि जैसे—जैसे डॉक्टरों, अस्पतालों और दवाओं की तरक्की हो रही है, वैसे—वैसे ही रोगों और रोगियों की संख्या बढ़ती चली जा रही है।

यह स्थिति प्रकट में निस्सन्देह परस्पर विरोधी जान पड़ती है, पर जब हम कुछ गहराई में घुसकर विचार करते हैं तो शीघ्र ही उसका कारण समझ में आ जाता है। तीव्र औषधियाँ, जो कि रोगी को तुरन्त चंगा करने का वायदा करके दी जाती हैं। दो-चार दिन के भीतर महीनों या वर्षों से संचित विजातीय द्रव्य को बाहर तो निकाल नहीं सकतीं, वे विपरीत प्रतिक्रिया उत्पन्न करके उसे दबा देती हैं। इससे रोगी को चाहे ताल्कालिक लाभ मालूम होने लगे और कुछ महीनों के लिए फिर वह अपना नियमित जीवन बिताने लगे, पर उसका रोग दरअसल मिटता नहीं। परिस्थितियों के अनुसार वह शीघ्र ही या देर में, उसी रूप में या किसी अन्य रूप में पुनः उमड़ पड़ता है। मजबूर होकर रोगी को फिर उसी दवा के चक्र में जाना पड़ता है और रोग से छुटकारा पाने के लिए एक के बाद दूसरे डॉक्टरों की हाजिरी देनी पड़ती है।

प्राकृतिक नियमों के सम्बन्ध में हमारा अज्ञान

इस दुर्दशा का एकमात्र कारण प्राकृतिक नियमों के सम्बन्ध में हमारा अज्ञान अथवा उपेक्षा ही है। प्रकृति साधारण अवस्था में शारीरिक विकारों को बाहर निकालने के लिए जिन मल, मूत्र, पसीना और साँस के उपायों से काम लिया करती है, यदि रोगी होने पर हम भी उन्हीं को काम में लावें और विशेष विधियों द्वारा इन्हीं चारों मार्गों से शरीरस्थ विकारों को तेजी से निकालने का प्रयत्न करें तो हम दवाओं की अपेक्षा बहुत सहज में पूर्ण रूप से रोगमुक्त हो सकते हैं। जैसा प्रायः सभी जानते हैं रोगों का सबसे बड़ा कारण कब्ज होता है। पेट में गया हुआ आहार जब परिपाक होकर ठीक समय पर बाहर नहीं निकल जाता तब वह दूषित तत्वों को उत्पन्न करने लगता है और वे ही रोगों के मूल कारण होते हैं। ऐसी अवस्था का अनुभव होते ही आहार में सुधार करके एनीमा

आदि द्वारा मलाशय की सफाई कर डालने से आधा रोग समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात् जो दूषित तत्व शरीर के विभिन्न स्थानों में फैले हुये हों उनको किसी प्रकार के पसीना लाने वाले स्नान से त्वचा द्वारा निकाल दिया जाय तो रोग की जड़ ही प्रायः कट जाती है। आवश्यकतानुसार अधिक मात्रा में पानी पीकर मूत्र-मार्ग द्वारा भी विजातीय द्रव्यों के निकालने में सहायता पहुँचाई जा सकती है।

दवाएँ शरीर को विषाक्त बनाती हैं

ये सब उपाय ऐसे हैं जिनके समझने या कर सकने में कोई कठिनाई नहीं है और न किसी प्रकार के खर्च का सवाल उठता है। यदि मनुष्य स्वास्थ्य का ध्यान रखे और सावधानीपूर्वक आवश्यकता होते ही इन प्रयोगों को करता रहे तो बीमार होने की संभावना ही अधिकांश में मिट जाती है। पर जब हम इस दूषित अवस्था को अधिक समय तक टालते रहते हैं और विजातीय द्रव्य शरीर में दूर-दूर तक फैलकर मजबूती से जम जाता है, तब ऐसे सहज में और शीघ्र काम नहीं बन पाता। जब इन दोषों के कारण किसी अंग में अधिक निर्बलता आ जाय और वह अपना काम करने में असमर्थ हो जाय तो उसे सहायता देने के लिए उस काम को अन्य अंगों से कराना पड़ता है और उसे प्राकृतिक विधियों—गहरी साँस, व्यायाम, आसन, मालिश आदि के द्वारा उत्तेजित करना पड़ता है। ये ही विधियाँ प्राकृतिक चिकित्सा कही जाती हैं और इनके द्वारा हम सब प्रकार के रोगों से पूर्णतया छुटकारा पा सकते हैं। ये विधियाँ तीव्र दवाओं और इंजेक्शन आदि की अपेक्षा सदैव अधिक हितकारी होती हैं; क्योंकि वे शरीर के भीतर बढ़ हुए विकारों को वहीं दबाने के बजाय बाहर निकालने की योजना करती हैं, जिससे शरीर शुद्ध होकर फिर स्वाभाविक दशा को प्राप्त हो जाता है और सब अंग अपना काम ठीक प्रकार से करने लगते हैं। इसके विपरीत दवाएँ जहर को मारने के लिए जहर का ही प्रयोग करने की नीति के आधार पर शरीर को पहले से भी अधिक जहर से भर देती हैं। यह जहर चाहे कुछ समय के लिये निष्क्रिय हो जाय और बीमारी से छुटकारा पाने का अनुभव होने लगे, पर कुछ समय बाद उसका किसी भी रूप में फिर उभरना और निकलने की कोशिश करना अनिवार्य होता है, जिससे हमको पुनः पहले से भी अधिक रोग और कष्ट सहन करने को विवश होना पड़ता है।

प्राकृतिक विधि से चिकित्सा का महत्व

प्राकृतिक चिकित्सा रोगों को निर्मूल करने की स्वाभाविक और हर तरह से लाभदायक प्रणाली है। अगर उसे अच्छी तरह समझ लिया जाय अथवा किसी जानकार से थोड़े दिन तक उसकी शिक्षा प्राप्त कर ली जाय तो रोगों का निराकरण बिना किसी खास खर्च और कठिनाई के किया जा सकता है। इसी उद्देश्य से आगे चलकर हम विभिन्न रोगों के लिए उपयोगी चिकित्सा विधि को समझाकर लिखने का प्रयत्न करेंगे। प्रकृति के सामान्य नियम तो प्रत्येक रोग में लागू होते हैं; परन्तु किस रोग में किस तत्व द्वारा चिकित्सा की जाय और उसका प्रयोग कितनी मात्रा में किया जाय, इसका निर्णय रोग और रोगी की अवस्था का भली प्रकार निरीक्षण करके ही किया जा सकता है। यह सर्वथा सत्य है कि प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा रोग का मूल कारण दूर किया जाता है और कोई नया विकार पैदा होने की सम्भावना नहीं रहती। पर जिन लोगों की निर्बलता अधिक बढ़ गई है अथवा जिनके शरीर में कई रोग उत्पन्न हो गये हैं, जिससे रोग का निदान नहीं किया जा सकता, तो उस अवस्था में चिकित्सा बहुत धीरे-धीरे और सोच-समझ कर करनी चाहिये। उत्साह के आवेश में शक्ति से अधिक उपवास या कल्प आदि कर डालने से अनेक बार शरीर के भीतर दबे हुए दोष ऐसे जोर से उभरते हैं कि साधारण मनुष्य उनसे घबड़ा उठता है और लाभ के बजाय हानि उठानी पड़ती है। ऐसी हालत में अगर कुछ समय के लिए किसी प्राकृतिक चिकित्सालय में जाने की व्यवस्था हो सके तो सर्वोत्तम है, अन्यथा किसी अच्छे जानकार से पत्र-व्यवहार द्वारा परामर्श लेकर चिकित्सा में हाथ डालना चाहिये।

इन दोनों बातों में से यदि एक भी न हो सके तो तीसरा मार्ग यही है कि चिकित्सा की छोटी और बड़ी पुस्तकों को खूब ध्यान से बार-बार पढ़कर भली प्रकार समझ लें और यथा संभव उन्हीं विधियों से काम लें, जिनका अनुभव पहले प्राप्त कर लिया गया है। चिकित्सा में शीघ्रता न करना और पहले साधारण विधियों का अनुभव करके तब विशेष विधियों को काम में लाना सुरक्षा की दृष्टि से उचित है।

प्राकृतिक चिकित्सा का अध्यात्म

रोग निवारण के लिए अनेकों चिकित्सा पद्धतियाँ तो भारत में बहुत प्रसिद्ध हैं। संसार के अन्य देशों में इनके अतिरिक्त भी अनेकों पद्धतियाँ प्रचलित हैं। उन सबका उद्देश्य रोग कष्ट से रोगी को बचा देना मात्र है। इन सब में ऐसी मारक गुण वाली औषधियों के प्रयोग की व्यवस्था है जिनके द्वारा कष्ट देने वाले विजातीय द्रव्य का मारण किया जाता है। पर चूँकि वह विष द्रव्य कहीं अलग नहीं रखा रहता रक्त, मांस आदि में ही घुला रहता है, इसलिए उसके मारण के साथ स्वस्थ जीवनी शक्ति का भी मरण ही है। फिर भी इस मारण क्रिया से रोगों का रक्त-बीज पूर्णतया नष्ट नहीं होता, वरन् अर्धमृत एवं मूर्छित होकर शरीर के भीतर ही पड़ा रहता है। अवसर मिलते ही वह पुनः सजीव हो जाता है और उसी या किसी अन्य रोग का रूप धारण करके वह विष-द्रव्य रक्त बीज की तरह पुनः प्रकट होता है। इस प्रकार औषधि चिकित्सा करते रहने पर रोग दबते उछलते रहते हैं। एक तो रोगों के आक्रमण के कारण, दूसरे दवाओं के मारक प्रभाव द्वारा रोगी की जीवनीशक्ति दिन-दिन क्षीण होती जाती है। कुछ दिन इस प्रकार गाढ़ी घिसटती तो है, पर अन्ततः जीवन तत्त्वों के चुक जाने पर अकाल मृत्यु की घड़ी सामने ही आ उपस्थित होती है।

तुलनात्मक दृष्टि

तात्कालिक कष्ट निवारण की दृष्टि से औषधि चिकित्सा का कोई महत्व हो सकता है, पर जहाँ तक शरीर में भरे विजातीय विष तत्वों की सफाई का सम्बन्ध है, वहाँ तक उसे असफल ही माना जाएगा। कई बार तो तीव्र औषधियाँ स्वयं ही एक रोग तत्व का रूप धारण कर लेती हैं और उससे अधिक कष्ट देती हैं, जितना बेचारी बीमारी दे सकती थी। रोग के ऊपर औषधि, औषधि के बाद रोग का कुचक्र ऐसी बुरी तरह घूमता है कि इस जन्जाल में फँसा हुआ मनुष्य धीरे-धीरे उस जीवनीशक्ति से वंचित ही होता जाता है, जिसके कारण शारीरिक और मानसिक बल की जड़ जमी रहती है और देह तथा मन के रोगों एवं आघातों का मुकाबला कर सकना सम्भव होता है। जीवन तत्व के निरन्तर क्षीण होते रहने से मनुष्य की आत्मिक स्थिति इतनी दुर्बल हो जाती है कि वह मानवता के आवश्यक गुणों से भी धीरे-धीरे वंचित होने लगता है। क्रोध, चिड़चिड़ापन,

दोषारोपण, निराशा, आवेश, चंचलता, भय, चिन्ता, अनुत्साह, आलस्य, वासना, कायरता, दीनता, चोरी आदि की कितनी ही दुष्प्रवृत्तियाँ अशक्त मनुष्य में पनपती हैं। फलस्वरूप वह मानव-जीवन के महान् गौरव के अनुरूप अपना जीवन निर्माण कर सकने में असमर्थ हो जाता है।

निर्दोष चिकित्सा पद्धति-

चिकित्सा का उद्देश्य रोगों के विष को शरीर से निष्कासन कर देना ही नहीं, बीमारी को काट देना भी होना चाहिए। जीवनीशक्ति को बढ़ाकर आत्मिक स्थिति में सुदृढ़ता प्रदान करना भी होना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रचलित चिकित्सा पद्धतियाँ एकांगी ही नहीं दोषपूर्ण भी दिखाई पड़ती हैं। इस समस्या पर विचारकों और तत्वदर्शियों का ध्यान गया है और जा रहा है। निर्दोष चिकित्सा पद्धतियों की खोज करने के सिलसिले में आदि काल से लेकर अब तक जो प्रयत्न किये गये हैं उन सब का निष्कर्ष एक ही निकला है—‘प्राकृतिक चिकित्सा’! हमें यह नाम भी अपूर्ण लगता है। वस्तुतः इस विज्ञान को कहना चाहिए— प्राकृतिक जीवन—यापन करने की विद्या।

इसके आधार पर रोग की तात्कालिक चिकित्सा ही नहीं होती, वरन् उस जीवनीशक्ति की अभिवृद्धि भी होती है जो दीर्घजीवन और प्रफुल्लित मनःस्थिति का मूल आधार है। शरीर ही नहीं मन पर भी इसका भारी प्रभाव पड़ता है और रोग से विवश होकर ही सही जो इस प्रणाली के सम्पर्क में आता है निश्चित रूप से संयम, साहस और अगणित मानसिक श्रेष्ठताओं को अनायास ही उपलब्ध कर लेता है।

अध्यात्म का स्थूल प्रयोग—

प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली को हमने अध्यात्म ज्ञान के शारीरिक क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग की दृष्टि से ही जाना और माना है, और उसी मान्यता के आधार पर इसे अग्रगामी बनाने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। इसका पहला आधार शरीर शुद्धि का ही एक स्थूल रूप है। इस प्रणाली के अनुसार चिकित्सा कराने वाले के लिए आत्म संयम का अपनाना, इन्द्रियों पर काबू रखना, मन को मारना नितान्त आवश्यक है। इसके बिना यह चिकित्सा प्रणाली एक कदम भी आगे नहीं बढ़ती। उपवास को प्राकृतिक चिकित्सा का प्राण कहा जाता है। आहार में ऋषि मुनियों जैसी सात्त्विकता अपनानी पड़ती है। शाक, फल, छाछ दूध को बिना

मसाले और बिना शक्कर के लेना जिहा इन्द्रिय की एक कड़ी तितीक्षा और तपश्चर्या है। आज जबकि हर आदमी चटोरेपन की आदतों से बुरी तरह ग्रसित है, उपवास के नाम पर लोग जो माहौल बनाते हैं, उसमें भी हलुआ, मिठाई, मैदा, नमक, कालीमिर्च आदि का पूरा सरंजाम ऐसा इकट्ठा कर लेते हैं जिसमें चटोरेपन को पूरी छूट रहती है। इसके मुकाबले में प्राकृतिक चिकित्सा का रोगी कहीं अधिक कठोर उपवास करता है। उसे मिठाई मसाले सभी कुछ छोड़ने पड़ते हैं। आरम्भ में निराहार उपवास करने पड़ते हैं और पीछे बहुत दिनों तक शाक, फल, छाछ जैसे परम सात्त्विक आहार को बहुत स्वल्प मात्रा में लेकर काम चलाना पड़ता है। टूँस-टूँस कर चटपटे पदार्थ खाते रहने वाले जिह्वालोलुप व्यक्तियों के लिए प्राकृतिक चिकित्सा उतनी ही कठिन है जितना दुष्ट दुराचारियों के लिए भगवान में एक क्षण के लिए भी मन लगा सकना।

उपवास की महत्ता

उपवास को शास्त्रों में पापों का एक श्रेष्ठ प्रायश्चित्त बताया है। एकादशी, रविवार एवं व्रत पर्वों के दिनों लोग बड़ी श्रद्धा और भावनापूर्वक उपवास करके आत्म शुद्धि का आयोजन करते हैं। चान्द्रायण व्रत में एक महीने का उपवास करना पड़ता है और उससे अनेक पापों का प्रायश्चित्त होने की आशा रखी जाती है। यह धार्मिक उपवास अब रुढ़ि बन जाने से उनमें बहुत प्रकार का बहुत कुछ खाते रहने की तरकीबें निकाल ली गई हैं। पर प्राकृतिक चिकित्सा में अनिवार्य रूप से कराये जाने वाले उपवास एवं सात्त्विक आहार पर जमाई हुई श्रद्धा में उपवास का वास्तविक एवं वैज्ञानिक तत्व भरा रहता है। उससे रोग निवारण के रूप में शारीरिक पापों का प्रायश्चित्त तो प्रत्यक्ष ही हो जाता है। मानसिक पापों की शुद्धि भी होनी निश्चित है। गीता में उपवास को विषय वासनाओं से निवृत्त कराने वाला बताया गया है। ‘प्रायश्चित्त्य निर्णय’ ग्रन्थ में हर पाप के प्रायश्चित्त्य में उपवास तो अनिवार्य ही माना है। एकादशी माहात्म्य की वह कथा प्रसिद्ध है जिसमें अनजाने लड़ाई-झगड़े के कारण एकादशी के दिन एक धोबिन के कुछ न खाने पर इतना पुण्य मिल गया था कि उसके स्पर्श से देवताओं का टूटा हुआ विमान भी आकाश में उड़ जाने योग्य बना था। फिर प्राकृतिक चिकित्सा में कराये जाने वाले उपवास मानसिक स्थिति में सात्त्विकता लाने वाले क्यों सिद्ध न होंगे। इस कठोर आत्म नियंत्रण और इन्द्रिय निग्रह का चिकित्सार्थी की मनोदशा पर प्रभाव क्यों न पड़ेगा।

अन्य चिकित्सा प्रणालियों में एक मिनट में दवा देकर डॉक्टर अपने रोगी से अलग हो जाता है, उसे कोई जरूरत नहीं कि अपनी औषधि का सारा विज्ञान समझावें अथवा रोग उत्पत्ति के हेतु एवं भविष्य में उससे बचे रहने के तत्वज्ञान को रोगी के सामने रखे। पर प्राकृतिक चिकित्सक को मिट्टी-पानी जैसे बिना मूल्य के तुच्छ समझे जाने वाले पदार्थों की महत्ता को, अपनी अजनबी चिकित्सा प्रणाली की विशेषता को समझाना पड़ता है। समझाये बिना रोगी के कौतूहल एवं विश्वास का समाधान नहीं हो सकता। प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान को भली प्रकार समझ लेने पर रोगी भविष्य में उन नियमों पर चलने के लिए निष्ठावान हो जाता है। फलस्वरूप सदा के लिए न केवल उसका दवादारु से पिण्ड छूटता है, वरन् सात्त्विक गतिविधियों को अपनाने से शरीर को स्वस्थ रखने के साथ-साथ मनोबल भी प्रचुर मात्रा में बढ़ने लगता है। जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए यह मनोबल देह की जीवनी शक्ति से किसी भी प्रकार कम मूल्यवान नहीं है।

धैर्य और विवेक का अभ्यास-

प्राकृतिक चिकित्सा में एक रोग का तात्कालिक समाधान नहीं होता, वरन् शरीर की पूरी शुद्धि और सफाई करनी पड़ती है। इसमें कुछ तो समय लग ही जाता है। आज इसकी, कल उसकी दवा कराने वाला अधीर रोगी जब धैर्यवान् बनता है, तभी वह चिकित्सा का लाभ उठा पाता है। चिकित्सा के दिनों में उसे जिह्वा इन्दिय पर कठोर संयम करने के साथ-साथ धैर्य और विवेक की भी साधना करनी पड़ती है। अन्यथा जन्म भर से पड़ी चली आ रही चटोरेपन की आदत को कैसे काबू में रखा जा सकेगा। क्षण-क्षण में रोग मुक्ति के लिए उतावला मृगतृष्णा में व्यथित कस्तूरी के हिरन की तरह उछलने फिरने वाला एक-एक दिन एक-एक डॉक्टर की आजमायश करने वाला रोगी; क्योंकर देर तक शरीर की शुद्धि में स्थिर मति से लगा रह सकेगा।

रोग के दिनों की विपन्न स्थिति में भी जिसने धैर्य और विवेक की परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त करने का निश्चय किया हुआ है वह व्यक्ति भावी जीवन में अवश्य ही धैर्यवान् और विवेकशील बनेगा। इन महान् सद्गुणों की अभिवृद्धि आत्मिक लाभ की दृष्टि से इतनी महत्वपूर्ण है कि शारीरिक स्वास्थ्य लाभ तो उसकी तुलना में बहुत ही तुच्छ श्रेणी का लाभ रह जाता है। इन दोनों गुणों का बढ़ना मानव को महामानव बना सकने में बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है।

मृग मरीचिका से छुटकारा-

कृत्रिमता के दुष्परिणाम और प्रकृति प्रदत्त प्रेरणाओं का महत्व समझना ही प्राकृतिक चिकित्सा का आधार है। यह विश्वास जिसका जम गया वह विलासिता, दिखावा, ढोंग और अन्धी दुनियाँ के पीछे भागने की अपेक्षा प्रकृति और ईश्वर से प्रेरणा प्राप्त करेगा। मिट्टी, पानी, हवा, आग और आकाश पंचतत्वों से यह शरीर बना है तो उन्हीं के उपचार से वह निरोग हो सकेगा। यह मान्यता बन जाने के बाद यह मान्यता बनना भी स्वाभाविक है कि आत्मा को शान्ति और स्थिरता उसके सजातीय अध्यात्म, धर्म और ईश्वर से ही मिलने वाली है। यह प्रपंच की कृत्रिमता माया मरीचिका के समान है, जो तृष्णा की आग भड़काती, अगणित दुष्प्रवृत्तियों को जन्म देकर पाप पंक में धकेल देती है। जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य रक्षा के लिए इन्द्रिय संयम और नियमितता का अवलम्बन आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मिक स्वास्थ्य के लिए तृष्णा और वासना का परित्याग अनिवार्य है। यह भावना अन्तःकरण में उत्पन्न होने पर शरीर स्वास्थ्य से भी अधिक उपयोगी आत्मिक स्वास्थ्य की ओर मनुष्य का ध्यान जाना स्वाभाविक है, जो शरीर को सात्त्विक ढाँचे में ढाल सकता है। वह मन को भी धर्म और सदाचार के बन्धनों में बाँध सकता है।

आत्म कल्याण की साधना के लिए लोग अनेक प्रकार के कर्मकाण्डों को अपनाते हैं, उनमें से कई सार्थक कई निरर्थक होते हैं। इन कर्मकाण्डों में प्राकृतिक जीवन की पद्धति के अनुसार अपनी दिनचर्या को ढाल लेना आत्मिक साधना का एक अत्यन्त उपयोगी एवं सार्थक प्रकार हो सकता है। धर्म और अध्यात्म पूजाघर तक सीमित रहने की ही नहीं, जीवन में ओत-प्रोत हो जाने की वस्तु है। संयम और नियमितता शरीर का धर्म एवं अध्यात्म है, जो इसका पालन करने लगेगा उसकी प्रवृत्ति आन्तरिक अध्यात्म को व्यावहारिक जीवन में उतारने के लिए अवश्य अग्रसर होगा। उच्च सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करने का व्यावहारिक अभ्यास प्राकृतिक चिकित्सा में होता है। यह अभ्यास आगे बढ़ेगा ही और उसका सत्परिणाम आध्यात्मिक जीवन में प्रत्यक्ष परिलक्षित होगा ही।

प्राकृतिक चिकित्सा क्या है ?

प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली का अर्थ है प्राकृतिक पदार्थों विशेषतः प्रकृति के पाँच मूल तत्वों द्वारा स्वास्थ्य-रक्षा और रोग निवारण का उपाय करना। विचारपूर्वक देखा जाय तो यह कोई गुह्य विषय नहीं है और जब तक

मनुष्य स्वाभाविक और सीधा-सादा जीवन व्यतीत करता रहता है, तब तक वह बिना अधिक सोचे-विचारे भी प्रकृति की इन शक्तियों का प्रयोग करके लाभान्वित होता रहता है। पर जब मनुष्य स्वाभाविकता को त्याग कृत्रिमता की ओर बढ़ता है, अपने रहन-सहन तथा खान-पान को अधिक आकर्षक और दिखावटी बनाने के लिए प्रकृति के सरल मार्ग से हटता जाता है, तो उसकी स्वास्थ्य सम्बन्धी उलझनें बढ़ने लगती हैं और समय-समय पर उसके शरीर में कष्टदायक प्रक्रियाएँ होने लगती हैं। जिनको 'रोग' कहा जाता है। इन रोगों को दूर करने के लिए अनेक प्रकार की चिकित्सा प्रणालियाँ आजकल प्रचलित हो गई हैं। जिनमें हजारों तरह की औषधियों, विशेषतः तीव्र विषात्मक द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। इन तीव्र दवाओं से जहाँ कुछ रोग अच्छे होते हैं, वहाँ उन्होंकी प्रतिक्रिया से कुछ अन्य व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और संसार में रोगों के घटने के बजाय नित्य नवीन रोगों की वृद्धि होती जाती है। इस अवस्था को देखकर पिछले सौ-डेढ़-सौ वर्षों के भीतर योरोप अमरीका के अनेक विचारशील सञ्जनों का ध्यान प्राकृतिक तत्वों की उपयोगिता की तरफ गया और उन्होंने मिट्टी, जल, वायु, सूर्य-प्रकाश आदि के विधिवत् प्रयोग द्वारा शारीरिक कष्टों, रोगों को दूर करने की एक प्रणाली का प्रचार किया। वही इस समय प्राकृतिक चिकित्सा या 'नेचर क्योर' के नाम से प्रसिद्ध है।

पर यह समझना कि प्राकृतिक-चिकित्सा प्रणाली का आविष्कार इन्हीं सौ-दो-सौ वर्षों के भीतर हुआ है, ठीक न होगा। हमारे देश में अति प्राचीन काल से प्राकृतिक पंच-तत्वों की चमत्कारी शक्तियों का ज्ञान था और उनका विधिवत् प्रयोग भी किया जाता था और तो क्या हमारे वेदों में भी, जिनको अति प्राचीनता के कारण अनादि माना जाता है और जिनका उद्भव वास्तव में वर्तमान मानव सभ्यता के आदि-काल में हुआ था प्राकृतिक चिकित्सा के मुख्य-सिद्धान्तों का उल्लेख है। ऋग्वेद का एक मंत्र देखिये—

आपः इद्वा उ भेषजीरापो अभीवचातनीः।

आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कणवन्तु भेषजम्॥

(१०-१३७-६)

'जल औषधि रूप है, यह सभी रोगों को दूर करने वाली महान् औषधि के तुल्य गुणकारी है। यह जल तुमको औषधियों के समस्त गुण (लाभ) प्राप्त करावे।'

इस तरह के वचन ऋग्वेद और अर्थवेद में अनेक स्थानों पर मिलते हैं। साथ ही सूर्य-प्रकाश तथा वायु के आरोग्यदायक गुणों का भी उल्लेख मिलता है। तमिल भाषा में वेदों के समान ही पूजनीय माने जाने वाले 'कुरल' नामक ग्रन्थ में प्राकृतिक चिकित्सा की विधियों की बड़े उत्तम ढंग से शिक्षा दी गई है। यह ग्रन्थ दो हजार वर्ष से अधिक पुराना है। इसी प्रकार योरोप के सर्वप्रथम चिकित्साशास्त्री माने जाने वाले हिपोक्रेट्स ने मनुष्यों को स्वास्थ्य विषयक उपदेश देते हुए स्पष्ट लिखा है "तेरा आहार ही तेरी औषधि हो और तेरी औषधि तेरा आहार हो"।

प्राकृतिक चिकित्सका का एक बहुत बड़ा सिद्धान्त यही है कि आहार ही ऐसा किया जाय जो औषधि का काम दे और जिससे शरीर के विकार स्वयं दूर हो जायें। हिपोक्रेट्स का सिद्धान्त पूर्णतया भारतीय विद्वानों के मत से मिलता हुआ है और उसे भारतवर्ष की विद्याओं का ज्ञान हो तो कोई आश्वर्य भी नहीं; क्योंकि उस ढाई हजार पुराने युग में भारत की सभ्यता और संस्कृति का संसार के सभी भागों में प्रचार हो चुका था।

इस प्रकार जब तक मनुष्य प्रकृति की गोद में पलते-खेलते थे, उनका रहन-सहन भी प्राकृतिक नियमों के अनुकूल था तो वे अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति प्राकृतिक ढंग से ही करते थे पर मध्यकाल में जब बड़े-बड़े राज्यों और साम्राज्यों की स्थापना हो गई तो बड़े आदमियों के रहन-सहन में भोग-विलास की अधिकता होने लगी और उसकी पूर्ति के लिए भाँति-भाँति के कृत्रिम उपायों का प्रयोग भी बढ़ने लगा। साधारण लोग भी उनकी नकल करके नकली चीजों को अधिक सुन्दर और आकर्षक समझने लगे, जिसके फलस्वरूप लोगों का स्वास्थ्य निर्बल पड़ने लगा तभी तरह-तरह के रोगों की वृद्धि होने लगी। जब कालक्रम से यह अवस्था बहुत बिगड़ गई और संसार की जनसंख्या तरह-तरह के भयानक तथा गन्दे रोगों के पंजे में फँस गई तो विचारशील लोगों का ध्यान इसके मूल कारण की तरफ गया और उन्होंने कृत्रिम आहार-विहार की हानियों को समझ कर 'प्रकृति की ओर लौटो' (बैक टू नेचर) का नारा लगाया।

यदि हम भारतीय धर्म और संस्कृति की दृष्टि से इस चिकित्सा-प्रणाली की व्याख्या करें तो हम कह सकते हैं कि मनुष्य के स्वास्थ्य और रोगों के भीतर भगवान की दैवी शक्ति ही काम कर रही है। व्यावहारिक क्षेत्र में यह रोगों और व्याधियों के निवारण के लिए केवल उन्हीं आहारों तथा पंच तत्वों का औषधि

रूप में प्रयोग करना बतलाती है जो सर्वथा प्रकृति के अनुकूल हैं। इस प्रकार इस चिकित्सा के छः विभाग हो जाते हैं—

मानसिक चिकित्सा, उपवास, वायु-चिकित्सा, जल-चिकित्सा, मिही चिकित्सा और आहार।

आजकल जिस डॉक्टरी चिकित्सा-पद्धति का विशेष प्रचलन है, उसका उद्देश्य किसी भी उपाय से रोग में तत्काल लाभ दिखला देना होता है, फिर चाहे वह लाभ क्षणिक, अस्थायी ही क्यों न हो। हम देखते हैं कि अस्पतालों में एक-एक रोगी को महीनों तक प्रतिदिन तीव्र इंजेकशन लगते रहते हैं, पर एक शिकायत ठीक होती है तो दूसरी उत्पन्न हो जाती है। पर पीड़ा के कुछ अंशों में मिटते रहने के कारण लोग इन बाध्य चीजों की चिकित्सा के फेर में पड़े रहते हैं॥ इसके विपरीत प्राकृतिक चिकित्सा में रोगों के विभिन्न नामों तथा रूपों की चिन्ता न करके उनके मूल कारण पर ही ध्यान दिया जाता है और उसी को निर्मूल करने का प्रयत्न किया जाता है। इतना ही नहीं इस चिकित्सा का वास्तविक लक्ष्य केवल शारीरिक नहीं; वरन् मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य प्राप्त कराना भी माना गया है; क्योंकि मानसिक तथा आध्यात्मिक सुधार के बिना शारीरिक स्वास्थ्य स्थायी नहीं हो सकता। इसलिए भारतीय चिकित्सा प्रणाली में जहाँ शुद्ध आहार-विहार का विधान है वहाँ उच्च और पवित्र जीवन व्यतीत करने पर भी जोर दिया गया है।

प्राकृतिक चिकित्सा के तत्व का यथार्थ रूप में हृदयंगम करने वाला व्यक्ति गीता के “कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषुकदाचन” वाले वाक्य पर पूर्ण श्रद्धा रखकर ‘सत्य-आचरण का ध्यान रखता है और फल को भगवान के ऊपर छोड़ देता है।’ सत्य आचरण वाला व्यक्ति प्रथम तो रोगी ही नहीं होगा और यदि किसी गलती या दुर्घटना से हो भी गया तो उसी आचरण के प्रभाव से रोग का निवारण शीघ्र ही हो जायेगा। रोग की अवस्था में यह ‘सत्य-आचरण’ उपवास, शुद्ध वायु, प्रकाश, जल स्नान तथा औषधि रूप आहार का प्रयोग करना ही हो सकता है, इन साधनों से हम सब प्रकार के रोगों की सफलतापूर्वक चिकित्सा करने में सक्षम हो सकते हैं।

आगे चलकर जब रोगों के कारण और स्वरूप पर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि रोग जीवित शरीर में ही उत्पन्न हो सकता है। जीवित शरीर एक मशीन या यंत्र की तरह है जिसका संचालन एक सूक्ष्मशक्ति (प्राण) द्वारा

होता है। यही शक्ति भौतिक पदार्थों का सार ग्रहण करके उससे शरीर का निर्माण कार्य करती रहती है और दूसरी ओर इसी के द्वारा सब प्रकार के आहार से बचे हुए निस्सार मल रूप अंश का निष्कासन किया जाता है। ये दोनों क्रियाएँ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। और इन दोनों के ठीक तरह संचालित हुए बिना न तो जीवन और न स्वास्थ्य स्थिर रह सकता है। पर हम देखते हैं कि अधिकांश लोग भोजन ग्रहण करने की क्रिया के महत्व को तो कुछ अंशों में समझते हैं और अपनी बुद्धि तथा सामर्थ्य के अनुसार पौष्टिक, शक्ति प्रदायक, ताजा रुचिकारक भोजन की व्यवस्था करते हैं, पर निष्कासन की क्रिया के महत्व को समझने वाले और उस पर ध्यान देने वाले व्यक्तियों की संख्या अत्यन्त न्यून है। लोग समझते हैं कि उत्तम भोजन को पेट में डाल लिया जाएगा तो वह लाभ ही करेगा। पर यह भोजन यदि नियमानुसार परिमित मात्रा में पथ्य अपथ्य का ध्यान रखकर न किया जाएगा तो निष्कासन की क्रिया का बिगड़ जाना अवश्यम्भावी है। उसके परिणामस्वरूप शरीर के भीतर मल और विकार जमा होने लगते हैं और स्वास्थ्य का संतुलन नष्ट हो जाता है।

यह विकार या विजातीय द्रव्य शरीर के स्वाभाविक तत्वों के साथ मिल नहीं पाता और एक प्रकार का संघर्ष अथवा अशान्ति उत्पन्न कर देता है, हमारी जीवनी-शक्ति यह कदापि पसन्द नहीं करती कि उस पर विजातीय द्रव्य का भार लादकर उसके स्वाभाविक देह-रक्षा के कामों में बाधा उपस्थित की जाय। वह हर उपाय से उसे शीघ्रातिशीघ्र बाहर निकालने का प्रयत्न करती है। यदि वह उसे पूर्ण रूप से निकाल नहीं पाती तो ऐसे अंगों में डाल देने का प्रयत्न करती है जो सबसे कम उपयोग में आते हैं और जहाँ वह कम हानि पहुँचा कर पड़ा रह सकता है। इस प्रकार जब तक जीवनीशक्ति विजातीय द्रव्य के कुप्रभाव को मिटाती रहती है तब तक हमें किसी रोग के दर्शन नहीं होते। पर जब हम बराबर गलत मार्गों पर चलते रहते हैं और विजातीय द्रव्य का परिमाण बढ़ता ही जाता है, तो लाचार होकर जीवनी शक्ति को उसे स्वाभाविक मार्गों के बजाय अन्य मार्गों से निकालना पड़ता है। चूँकि यह कार्य नवीन होता है, हमारे नियमित अभ्यास और आदतों के विरुद्ध होता है, इसलिए उससे हमको असुविधा, कष्ट, पीड़ा अनुभव होती है और हम उसे रोग या बीमारी का नाम देते हैं; पर वास्तविक रोग तो हमारी शारीरिक प्रकृति अथवा जीवनीशक्ति द्वारा उस रोग को मिटाने का उपाय होते हैं। अगर हम इस तथ्य को समझकर तथा कष्ट और

पीड़ा को प्रकृति की चेतावनी के रूप में ग्रहण करके सावधान हो जायें, तो रोग हमारा कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता। उस समय हमारा कर्तव्य यही होना चाहिए कि हम प्रकृति के काम में किसी तरह विघ्न बाधा न डालें, वरन् अपने गलत रहन-सहन को बदलकर प्राकृतिक जीवन के नियमों का पालन करने लगें। इससे विजातीय द्रव्य के बाहर निकालने के कार्य में सुविधा होगी और हम बिना किसी खतरे के अपेक्षाकृत थोड़े समय में रोग-मुक्त हो जायेंगे। संक्षेप में यही प्राकृतिक चिकित्सा का मूल रूप है, जिसको उपचास, मिट्टी और जल के प्रयोग, धूप-स्नान आदि कितने ही विभागों में बाँटकर सर्व साधारण को बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया गया है।

प्राकृतिक चिकित्सा का अर्थ

प्राकृतिक चिकित्सा तथा अन्य चिकित्सा पद्धतियों में यथेष्ट अन्तर है। साधारण चिकित्सक रोगी को दवाई देकर ठीक करने का प्रयत्न करता है, अनेक दवाइयों, इन्जेक्शन इत्यादि का प्रयोग करता है और बाह्य उपचारों का आश्रय लेता है। रोग के कारण रोगी में जो बाह्य लक्षण दिखाई देते हैं, उन्हें दूर करता है और उन लक्षणों के विलुप्त होने पर डॉक्टर का कार्य समाप्त हो जाता है। डॉक्टर रोगी के सम्बंध में कोई दिलचस्पी नहीं लेता। इस चिकित्सा से कुछ दिन के लिए रोग दब जाता है, नष्ट नहीं होता। जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ था, वे चिकित्सा के उपरान्त भी मौजूद रहते हैं और समय पाकर पुनः उभर आते हैं। स्थायी लाभ नहीं हो पाता।

प्राकृतिक चिकित्सा जीवन की एक पद्धति—

कुदरती इलाज में ऐसी बात नहीं है। यहाँ केमिस्ट की बड़ी दुकान की भाँति इन्जेक्शन और रंगबिरंगी दवाइयाँ नहीं होतीं, चूरन, चटनी, जड़ी-बूटी इत्यादि रोगी को नहीं दी जाती। प्राकृतिक चिकित्सक के पास साधारण चीज होती हैं, वे इन्हीं के प्रयोग से रोग दूर करता है; किन्तु इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि वह अपने रोगी को जीवन व्यतीत करने का एक ऐसा सरल स्वाभाविक, शास्त्रीय मार्ग सिखाता है, जिससे वह घर में या प्रकृति के साहचर्य में रहकर ऐसा जीवन बिताता है कि भविष्य में कभी बीमार ही नहीं पड़ता। स्वास्थ्य के नियमों का पालन कराने में वह अधिक दिलचस्पी लेता है। जहाँ साधारणतः

डॉक्टर लोग अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं, वहाँ कुदरती इलाज के डॉक्टर की दिलचस्पी प्रारंभ होती है। इसके होने पर रोगी के जीवन का नया पृष्ठ खुलता है। वह उस पद्धति को ग्रहण करता है जिसमें रोग और व्याधि के लिए कोई स्थान नहीं। जहाँ जीवन अपने सधे-सधाए मार्ग पर बँधा चला जाता है। उसे कृत्रिम और दिखावटी बातों की परवाह नहीं रहती। प्राकृतिक चिकित्सा मानव जीवन की सही दिशा संकेत करती है। यह वह शिक्षण पद्धति है जो हमें दीर्घ और आनन्दमयी जीवन का वास्तविक रहस्य समझाती है। ‘कुदरती इलाज जीवन की एक पद्धति है, रोग मिटाने के इलाजों का तरीका ही नहीं।’

कुदरती इलाज के मूल तत्व—पंच महाभूत

शरीर का निर्माण पृथ्वी, जल, आकाश, तेज और वायु नाम के पंच तत्वों से हुआ है, जो पंचमहाभूत कहलाते हैं। इनमें सबसे आवश्यक तत्व वायु है। उसके बिना एक क्षण अस्तित्व नहीं। वायु जीवन है। तेज तत्व शरीर को शक्ति पहुँचाता है, जल से रक्त संचालन का कार्य ठीक प्रकार चलता है। वायु का प्रयोग—

प्राकृतिक जीवन के अनुयायी को हवा का अधिक से अधिक सेवन करना चाहिए। वैसे हवा तो सभी लेते हैं; किन्तु ईश्वर का प्रसाद तो स्वच्छ ताजी वायु में प्रकट होता है। घर की चहार दीवारों या गन्दी गलियों, नालियों और कूड़े करकट से भरे मुहल्लों, बाजारों या कारखानों में स्वच्छ हवा मिलना कठिन है। अतः हमें चाहिए कि प्रातःकाल किसी उद्यान, जंगल या शहर से दूर टहलने जायें और ताजी हवा से फेफड़ों को खूब भर लें। प्रातः सायं स्वच्छ हवा में दीर्घश्वासोच्छ्वास की कसरतें करने से फेफड़े सशक्त बनते हैं। अधिक वायु लेने से रक्त शुद्ध होते हैं। जीवनी शक्ति का विकास होता है। आपके मकान खिड़कियों और रोशनदानों से युक्त हों। सोते समय कमरे में यथेष्ट वायु आये। बिस्तर पर पड़कर आप कपड़ों से मुँह न ढँक लें। दूसरी बुरी आदत मुँह से श्वास लेने की है। नथुनों की राह थास लेने से वायु को स्वच्छ होने का अवसर मिलता है और उसे जितना गर्म या ठण्डा होना चाहिए वह वैसी हो जाती है।

वायु के सम्पर्क में अधिक से अधिक रहने की आदत डालिये। अपना अधिक समय उद्यान, सरिता तट, खुले स्थानों, सैर-सपाटे, जंगलों, प्रकृति के आँचल में रह कर व्यतीत कीजिए। वायु का जितना अधिक उपयोग कर सकें,

कीजिये। हवा लग जाएगी और हम बीमार हो जायेंगे—यह निरा भ्रम ही है। शुद्ध, स्वच्छ और ताजी वायु तो प्राणदाता है। उसे अपने अन्दर कार्य करने दीजिये।

पृथ्वी की आश्चर्यजनक शक्ति—

प्रकृति की इच्छानुसार मनुष्य को पृथ्वी के साथ निकट सम्बन्ध रखना चाहिए। कमरे के फर्श, पत्थरों या हरी धास पर नंगे पाँव चलने से शक्ति प्राप्त होती है। जमीन पर सोने से जो सुख शान्ति मिलती है, वृक्षों तथा घर की शश्या पर वैसी दुर्लभ है। रात्रि में पृथ्वी पर सोने से निद्रा और शरीर में शान्ति होने के कारण पृथ्वी का बलदायक प्रभाव सूर्य स्नान या नंगे बदन सोने की अपेक्षा अधिक चमत्कारिक होता है।

दैनिक जीवन में पृथ्वी के साथ आप निकट सम्बन्ध निम्न रीतियों से कर सकते हैं—

(१) नंगे पाँव चलकर पृथ्वी तल से सीधा स्पर्श होता है। जर्मनी में तो इस प्रकार का एक आन्दोलन तक आरंभ किया गया था कि नंगा (Nudity) रहना स्वाभाविक और आरोग्यप्रद है। नंगे पांवों चलने वाला पांवों को दृढ़ करता है और पृथ्वी से प्राणशक्ति खींचता है। नंगे पांवों चलने से रुधिराभिसरण बराबर होता है।

(२) कई रोगों में पृथ्वी पर सोने से चमत्कारपूर्ण लाभ होता है। सोने के लिए ऐसी भूमि पसन्द करनी चाहिए, जहाँ धास कम उगी हुई हो। स्वाभाविक जीवन प्रारम्भ करने वालों को कुछ दिन हवादार पर्णकुटी में सोना चाहिए। आनन्दी और फुर्तीला रहने के लिए यथासम्भव प्रकृति का अनुसरण करना चाहिए। प्रकृति में पशु कम सोते हैं; किन्तु गहरी निद्रा लेते हैं। हमें भी यथा शक्य आराम के लिए, नवजीवन संचार के लिए विश्राम करना चाहिए, थोड़ी और आवश्यक नींद लेने से दृढ़ता, दीर्घायु एवं नवजीवन आता है। अधिक नींद से आलस्य बढ़ता है आयु और समय का नाश होता है। कृत्रिम शिथिलता अधिक निद्रा का परिणाम है।

पृथ्वी का कोई जानवर मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करता। मनुष्य ही इन मादक पदार्थों का विष सेवन करता और प्रकृति के द्वारा सजा पाता है। पृथ्वी पर अधिक से अधिक बैठिये, सोइये, चलिये, विश्राम कीजिये। पृथ्वी की आर्द्धता या सर्दी से न डर कर धूमने फिरने या यात्रा के समय जमीन पर बैठकर

या सोकर आराम करने का अभ्यास करना चाहिये। उत्तेजित मस्तिष्क वाले, हिस्टीरिया आदि वातग्रस्त मनुष्यों को शान्तिपूर्वक पृथ्वी पर बैठने और सोने से बहुत आराम मिलता है।

रात्रि के समय प्रकृति में एक नया जीवन प्रवाह निकला करता है। उस समय जंगल में धूमने से बड़ा लाभ पहुँचता है। रात्रि के समय पृथ्वी की शक्ति अति प्रबल हो जाती है।

आकाश तत्व—

कई वैज्ञानिकों ने जमीन पर स्वच्छ बालू ५ इंच स्तर के रूप में बिछाकर उसे बिस्तर के रूप में प्रयोग किया। उन्हें अत्यन्त लाभ हुए। ऐसे बिछौने पर खुले आकाश के नीचे सोना श्रेयस्कर है; क्योंकि आकाश में अद्भुत शक्ति है। आकाश तत्व को ग्रहण करने के लिए मैदान में अधिक से अधिक समय व्यतीत करना चाहिए।

जल तत्व—

ईश्वर प्रदत्त सर्वोत्तम पेय पदार्थ स्वच्छ, निर्मल, शीतल, (बिना स्वाद का) जल है। अंग्रेजी में इसे (God's Water) अर्थात् ईश्वर का जल कहते हैं। उसी को पीकर प्रकृति के सब प्राणी जीवन धारण करते हैं। हमें बनावटी द्रव्यों का पान छोड़ देना चाहिए। चाय, कहवा, शराब इत्यादि का प्रयोग तो साक्षात् विष खाना है।

प्राणियों का जीवन धारण जल पर निर्भर है। वायु के पश्चात् यही प्रमुख तत्व है। जल-प्राणियों का प्राण है। सम्पूर्ण संसार ही जलमय है। जल सर्वप्रधान औषधि है। इसके सेवन से जीवन सुखमय बनता है और शरीर की अग्नि भी आरोग्यवर्धक होती है। जल शरीर के लिए एक सर्वागपूर्ण शक्ति है। यह रक्त, स्नायु, मांसपेशी तथा प्रत्येक कोष को सतेज और सशक्त करता है। शरीर की समस्त प्रणाली जैसे— भोजन, श्वास, रक्त संचालन के लिए अनिवार्य है। यह मन को शान्ति, स्फूर्ति और प्रफुल्लता प्रदान करता है।

प्रकृति से दोस्ती—

शुद्ध वायु कुछ देर मिले, इससे स्थायी लाभ की आशा नहीं करनी चाहिए। शहरों में रहकर प्रातः सायं आप शरीर शोधन कार्य ही कर सकेंगे। इससे उत्तम तो यह है कि ग्रामों में निवास किया जाय। प्राकृतिक चिकित्सा का

उचित स्थान ग्राम ही हैं। वहाँ की स्थिति में प्राकृतिक जीवन को खूब अपनाया जा सकता है। ग्राम में शुद्ध वायु पाकर सदा स्वस्थ और शान्तिपूर्वक रहा जा सकता है। जो वातावरण प्राकृतिक चिकित्सक कठिनता से शहर में उपलब्ध कर सकता है, वह स्वस्थ वातावरण ग्राम में आसानी से हो जाता है।

हमें पुनः ग्रामों की ओर जाना होगा। आधुनिक जीवन की कृत्रिम किन्तु विषेली वस्तुओं, अप्राकृतिक चीजों, आदतों, आहार—विहारों को छोड़ना होगा। सिनेमा, थियेटर, देर तक रात—रात भर नाच रंग में मस्त रहना, मादक द्रव्यों, पान, सिगरेट, बीड़ी, चाय, कहवा, शराब, कबाब, गोश्त, ऐश के जीवन को सदा के लिए छोड़ देना होगा। सब प्रकार की मानसिक उत्तेजनाओं—काम, क्रोध, भय, घृणा, कुद्दन से अपने मानसिक संतुलन की रक्षा करनी होगी।

ग्रामीण जीवन में प्राप्त होने वाली शान्ति, निश्चिन्तता, प्रकृति का सामीक्ष्य—वे दैवी वस्तुएँ हैं, जो हमें वास्तविक आनन्द प्रदान कर सकती हैं। ग्राम में हमें श्रम करते हुए लज्जा न आयेगी और थक कर विश्राम करने में जो आनन्द आवेगा, उसका वर्णन कौन कवि कर सकता है? सुविधानुसार हमें अपने शरीर को धूप, हवा, जल, मिट्टी के सम्पर्क में रखना पड़ेगा, फल, दूध, तरकारियाँ, छाँछ, मक्खन हमारा भोजन होंगे, हृदय में हमारे शान्ति और मन में उत्साह होगा। यही प्राकृतिक जीवन है, जिसकी ओर हम बढ़ना चाहते हैं।

प्रकृति का साहचर्य

प्रकृति के विशाल प्रांगण में नाना जीव—जन्तु, जलचर, थलचर और नभचर हैं। प्रत्येक का शरीर जटिलताओं से परिपूर्ण है। उसमें अपनी—अपनी विशेषताएँ और योग्यताएँ हैं, जिनके बल पर वे पुष्पित एवं फलित होते हैं, यौवन और बुढ़ापा पाते हैं, जीवन का पूर्ण सुख प्राप्त करते हैं।

पृथ्वी पर रहने वाले पशुओं का अध्ययन कीजिये। गाय, भैंस, बकरी, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, बिली, ऊँट इत्यादि जानवर अधिकतर प्रकृति के साहचर्य में रहते हैं, उनका भोजन सरल और स्वाभाविक रहता है, खानपान तथा विहार में संयम रहता है। घास या पेड़—पौधों की हरी ताजी पत्तियाँ या फल इत्यादि उनकी क्षुधा निवारण करते हैं, सरिताओं और तालाबों के जल में वे अपनी तृष्णा निवारण करते हैं, ऋतु काल में विहार करते हैं। प्रकृति स्वयं उन्हें काल और ऋतु के अनुसार कुछ गुप्त आदेश दिया करती है। उनकी स्वयं वृत्तियाँ (instincts)

स्वयं उन्हें आरोग्य की ओर अग्रसर करती रहती है। उन्हें ठीक मार्ग पर रखने वाली प्रकृति माता ही है। यदि कभी किसी कारण से वे अस्वस्थ हो भी जायें, तो प्रकृति स्वयं अपने आप उनका उपचार भी करने लगती है। कभी पेट के विश्राम द्वारा, कभी धूप, मालिश, रगड़, मिट्टी के प्रयोग, उपवास द्वारा, कभी ब्रह्मचर्य द्वारा, किसी न किसी प्रकार जीव—जन्तु स्वयं ही स्वास्थ्य की ओर जाया करते हैं।

पक्षियों को देखिये। संसार में असंख्य पक्षी हैं। हम उन्हें इधर—उधर पेड़—पौधों पर उड़ता, फुदकता, चहकता, आनन्द मंगल करता देखते हैं। उनका मधुर गुंजन हमारे हृदय—सरोवर को तरंगित कर देता है। उनका रंग, भाव—भंगी, शरीर की बनावट हमारे मन को मोह लेती है। कौन इन्हें इतना सुन्दर, फुर्तीला, सुरीला रखता है? कौन इनके स्वास्थ्य की खैर खबर रखता है? कौन इन्हें आरोग्य के सम्बंध में पाठ पढ़ता है? और जब ये बीमार पड़ते हैं, तो कौन इनकी दवादारु करता है? हमने पक्षियों को बीमारी से अकाल में मरते नहीं देखा। अधिकांश को अन्य पक्षी या मनुष्य मार कर खाते हैं। वे स्वयं अपनी मूर्खता से बीमारी बुला कर बहुत कम मरते हैं। उनमें पूर्ण स्वस्थ रहने और आरोग्य का मधुर आनंद लाभ करने की सामर्थ्य है। प्रकृति उनके शरीर की रक्षा करती है। स्वयं शरीर के अन्दर एकत्रित हो जाने वाले विषों को निकालने का प्रयत्न करती है। शरीर के संवर्धन का पूरा—पूरा विधान रखती है। वही उनका डॉक्टर, हकीम या वैद्य है।

प्रकृति की प्रचुरता-

प्रकृति में प्रचुरता है, हर प्रकार की प्रचुरता है। आनन्द, स्वास्थ्य, आरोग्य की इतनी अधिकता है कि हम उसकी सीमा बन्धन नहीं कर सकते। स्वास्थ्य की उस अधिकता के कारण ही प्रकृति के अनेक पशु—पक्षी, जीव—जन्तु जीवन का आनन्द लेते हैं। जल, वायु, प्रकाश, भोजन से जीवन तत्व खींचकर वे दीर्घ जीवन के सुख लूटते हैं।

प्रकृति के कण—कण में पत्तियाँ, फलों, पौधों तथा जल की प्रत्येक बूँद में आरोग्य भरा हुआ है। वायु के प्रत्येक अंश को जिसे हम अन्दर खींचते हैं, जल के प्रत्येक धूँट में, जिसे हम पीते हैं, फल और तरकारियों के कण—कण में स्वास्थ्य और बल हमारे लिए संचित है। प्रकृति के पास जीवन को सर्वाग्रहण में स्वस्थ रखने के लिए सभी उपकरण हैं।

प्रकृति में वैचित्र्य है। अपने-अपने स्वभाव, रुचि, काल, अवस्था, परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति, जीव, जन्तु, पक्षी प्रकृति से जीवन-शक्ति खींचता है, उसके द्वारा जैसा भी शरीर उसे मिला है उसे स्वस्थ और सुन्दर बनाता है। अपनी समस्त शक्तियों को क्रियाशील रखता है। प्रकृति के भण्डार में सभी कुछ है, शहद जैसा मधुर पदार्थ क्या कभी मनुष्य बना सकता था? दुग्ध जैसा अमृत-सदृश पदार्थ क्या किसी रासायनिक लेबोटरी में तैयार किया जा सकता था? मेवे, फल, तरकारियाँ, गन्ना, प्रकृति ने इस प्रचुरता से उत्पन्न किए हैं कि प्रत्येक जीव को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उचित मात्रा में ये भोजन के पदार्थ उपलब्ध हो जाते हैं। सर्व अपना विष एकत्रित करता है, मधुमक्खी शहद जुटाती है, नीबू खटाई के तत्व पृथ्वी से खींचता है, तो करेला कड़वाहट एकत्रित करता है। प्रकृति में नव-रस का विधान है। इन नवरसों में जो जिसे रुचे वह उसी से अपना स्वास्थ्य स्थिर रखता है।

प्रकृति में किसी भी लक्ष्य की पूर्ति के लिए सभी साधन विद्यमान हैं। आपको बाह्य उपचारों की आवश्यकता नहीं। आप जैसा भी काम करना चाहें, उसके लिए सभी उपकरण एकत्रित कर सकते हैं। भाँति-भाँति की जड़ी-बूटियाँ पौष्टिक पदार्थ, अमृतोपम दिव्य पदार्थ हमारे लिए संचित हैं। मिठ्ठी से लेकर धूप, जल, वायु, सूर्य-किरण इत्यादि तक को यह शक्ति दी गई है कि वे हमारे शरीर को सबल और स्वस्थ बना सकें।

प्राकृतिक सौंदर्य-

प्रकृति में वास्तविक सुन्दरता है। आजकल के फैशन के भार से युक्त पुरुष या स्त्री को लोग सुन्दर समझते हैं, उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते। यह भ्रम मात्र है। वास्तविक सौंदर्य तो पूर्ण रूप से विकसित, परिपुष्ट और स्वस्थ शरीर में है। प्रत्येक पुड़े (Muscle) और मांसपेशी में स्वाभाविक सौंदर्य है। जिस युवक या युवती के शरीर में लाल-लाल रक्त प्रवाहित होता है, जिसके शरीर में स्वाभाविक लालिमा वर्तमान है, जिसका डीलडॉल संतुलित है, न कोई अंग पतला है, न कोई मोटा, न बादी व चर्बीयुक्त, न पेट ही बढ़ा हुआ है, नेत्र सुन्दर और चमकदार हैं, त्वचा कोमल और लाल है, फेफड़े परिश्रम सहन कर लेते हैं और गहरी नींद और आराम देते हैं, भूख खुलकर लगती है, स्वस्थ जल से (सोडालेमन, शराब, चाय, शरबत से नहीं) जिसकी व्यास शान्त हो जाती है, चूरण चटनी पर जिसकी जिह्वा नहीं लपलपाती, जिसके स्वभाव में न चिड़चिड़ापन है, न क्रोध,

उतावलापन, उदासी या निरुत्साह— ऐसे स्वस्थ मनुष्य को ही पूर्ण सुन्दर कहना युक्ति संगत है।

पुरुष हो या स्त्री—

यदि वह पूर्ण स्वस्थ और सुन्दर बना रहना चाहता है, या कुरुप से सुरुप होना चाहता है, तो उसे प्रकृति का आश्रय ग्रहण करना होगा। प्रकृति के नियमों का पालन करना होगा। व्यायाम और प्राकृतिक भोजन के द्वारा शरीर की प्रत्येक मांसपेशी को संतुलित रूप में विकसित करना होगा, शक्ति का अर्जन करना होगा— तभी हम सुन्दर बन सकेंगे। प्रकृति में ही वास्तविक सुन्दरता विद्यमान है।

चेहरे पर लाल रंग, पाउडर, क्रीम पोतने से क्या लाभ? वह तो पानी से धुल जायेगा। यदि शरीर में मांस, स्वस्थ रक्त, उत्तम स्वास्थ्य और आरोग्य नहीं तो उसे रेशमी कपड़ों या आभूषणों से अलंकृत करने से क्या सौंदर्य प्राप्त हो सकेगा? वास्तविक सौंदर्य जो चिरस्थायी है, जिसमें ईश्वरत्व प्रकट होता है, वह प्राकृतिक सौंदर्य ही है।

प्रकृति हमारी छोटी मोटी भूलों को दुरुस्त करती है

हमारे शरीर की रचना ही कुछ ऐसी बनाई गई है कि अवांछनीय विजातीय द्रव्यों, संचित विषों, गंदी वस्तुओं या विषेले पदार्थों को भिन्न-भिन्न द्वारों से निकाल कर बाहर करती रहती है। हमारी छोटी-मोटी भूलों—जैसे खान-पान का असंयम, अत्यधिक थकान, चलते-फिरते, उठते-बैठते जीवन शक्तियों की न्यूनता इत्यादि को प्रकृति स्वयं दुरुस्त करती है और प्रायः प्रकृति के इस उपयोगी कार्य का हमें पता भी नहीं चलता। सृष्टि के सभी जीव-जन्तु इन्हीं प्राकृतिक क्रियाओं से स्वस्थ रहते हैं। प्रकृति ने प्रत्येक शरीर में ऐसे-ऐसे गुप्त द्वार रखे हैं, जिनके द्वारा विषेले पदार्थ स्वयं निकलते रहते हैं और हमारी आकृति में यथोचित सुन्दरता को अक्षुण्ण रखते हैं। यदि प्रकृति इस महान् कार्य को न करती, तो हमारे शरीर बेढ़ंगे हो जाते, अंगों में भद्दापन और विषमता उत्पन्न हो जाती, हम लोग रोज ही अपच, कब्ज, स्थूलता, सूजन, फोड़े-फुन्सी, गठिया, प्रमाद, सिर दर्द या अन्य ऐसे ही छोटे-मोटे रोगों के शिकार रहा करते। भाग्यवश ऐसा नहीं है। हमारे शरीर के अन्दर विषेले पदार्थों से निरन्तर

संघर्ष होता रहता है, अनावश्यक पदार्थों को शरीर में ठहरने नहीं देती और साधारण शारीरिक विकारों को दुरुस्त करती है।

प्राकृतिक रूप से स्वस्थ मनुष्य की पहचान—

प्रकृति ने मनुष्य को विश्व का सबसे सुन्दर, शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों से सम्पन्न, स्वस्थ, सशक्त, सुडौल, दीर्घजीवी प्राणी बनाया है। आरोग्य और उत्तम स्वास्थ्य का मार्ग उसने बड़ा सरल और सीधा रखा है। मनुष्य तो क्या, अल्पबुद्धि वाले पशुपक्षी भी उसे भली-भाँति समझ सकते हैं। प्राकृतिक जीवन की आधारशिला क्या है, इसके लिए कुछ ज्ञातव्य बातें यहाँ दी जाती हैं—

(१) **डीलडौल—** स्वस्थ मनुष्य का आकार संतुलित होना चाहिए। कद काफी ऊँचा न हो, न शरीर पतला-दुबला अस्थि पिंजरवत हो, न भारी भरकम माँस से लटकता हुआ पोपला हो। प्रत्युत संतुलित रूप से प्रत्येक अंग विकसित हो, शरीर की मशीन का प्रत्येक कलपुर्जा ठीक काम करता हो। प्रशस्त उन्नत ललाट, चमकदार नेत्र, माथे व गालों पर स्वाभाविक रक्त की लालिमा हो। सिकुड़न का नाम तक न हो। पाँव व जाँघ मजबूत और शरीर का भार वहन कर सकने वाली हो। शरीर श्रम व मौसम के परिवर्तनों को सम्हाल सके, रोग से लड़ सके, आमाशय अपना कार्य उचित रीति से करता रहे।

(२) **आन्तरिक अवस्था—** पाचन क्रिया अपना कार्य करे, शुद्ध लाल खून निर्मित हो, शरीर से मल-विसर्जन कार्य अपनी स्वाभाविक गति से होता रहे। जो भोजन खाया जाय, वह शरीर को परिपुष्ट एवं स्वस्थ रखे, अपच या दस्त से निकल न जाय। कभी अपच, कभी कब्ज, दस्त, पेट दर्द इत्यादि न हों। खाया हुआ भोजन चार पाँच घण्टे में पच जाय। खाना खाते समय रुचि एवं स्वाद स्वास्थ्य के सूचक हैं। भोजन के उपरान्त आलस्य या नींद नहीं आनी चाहिए। चटपटी चीजों पर मन न चले, साधारण भोजन में ही मजा आये।

(३) **हृदय तथा फेफड़े—** शरीर के दो महत्वपूर्ण अंग हृदय तथा फेफड़े हैं। स्वस्थ मनुष्य में ये दोनों ही बड़े मजबूत होने अनिवार्य हैं। तेज भागने में आप हाँफ न जायें, मुख में से श्वास न लेने लगें, यह स्वस्थ फेफड़ों की पहचान है। सुषुप्तावस्था में मुँह से थांस लेने की आदत कमजोर फेफड़ों की निशानी है। स्वस्थ फेफड़े बाहर से स्वच्छ वायु अन्दर लेकर रक्त की सफाई में सहायता करते हैं और अशुद्ध वायु को बाहर निकाल देते हैं। हृदय दूषित रक्त की सफाई निरन्तर किया

करता है। स्वस्थ फेफड़े और मजबूत हृदय मनुष्य को परिश्रमी और स्वस्थ बनाते हैं। युवकों में हृदय की गति प्रति मिनट ७२ होनी चाहिए।

(४) **मल-विसर्जन कार्य—** शरीर में जो कूड़ा-करकट या गंदगी एकत्रित होती रहती है, उसे निकालने के लिए प्रकृति ने कई द्वार बना रखे हैं। मलमार्ग, मूत्रमार्ग, यकृत, त्वचा, फेफड़ों के अतिरिक्त, हमारे नेत्र और कान भी स्वास्थ्य के शत्रु, शरीर के अंग प्रत्यंगों में उत्पन्न हुए विकारों को निकाला करते हैं। जब तक हमारे शरीर के ये विकार स्वाभाविक गति से स्वयं बाहर न निकलते रहे, तब तक हम अपनी मल-विसर्जन इन्द्रियों को स्वस्थ नहीं कह सकते।

यदि मल विसर्जन कार्य में किसी भी प्रकार पीड़ा होती है, तो आप स्वस्थ नहीं हैं। यदि मल या मूत्र के साथ रक्त आता है, तो उसके दो कारण हो सकते हैं—

(१) या तो शरीर के उस भाग में कुछ चोट, घाव या सूजन आ गई है, अथवा

(२) आन्तरिक रूप से कुछ विकार हो गया है। मलमूत्र करने के पश्चात् एक प्रकार से शान्ति होनी चाहिए। यदि रक्त या पीव आवे, मल मार्ग से कीड़े आवे, तो आन्तरिक विकारों के सूचक हैं। मूत्र विसर्जन में यदि गर्भ या जलन हो, रक्त या पीव आवे पेशाब गाढ़ा लसदार हो या वीर्य आवे, तो शरीर को रोगी समझना चाहिए।

(५) **मानसिक स्थिति—** स्वस्थ मनुष्य मधुर, तृप्त और उत्साही होता है। चिंताएँ उसे नहीं सतातीं। चिड़चिड़ापन, क्रोध, उतावलापन, उदासी, निरुत्साह ये सब शरीर में संचित नाना प्रकार के विकारों के द्योतक हैं। अशान्त चित्त, अशुद्ध विचारों से युक्त मन, अतृप्त काम वासना से भरा हुआ अन्तःकरण मानसिक विक्षुब्धता के प्रतीक हैं।

अहंकार एक प्रकार की मानसिक बीमारी हैं। चित्त की व्यग्रता, अतृप्त वासनाएँ, विद्यु-बाधाओं से मिथ्या डर, कुसित कल्पनाएँ, कायरता आदि सब गिरे हुए स्वास्थ्य की निशानी हैं। इसके विपरीत निर्बल शरीर में भवबाधा, भूतप्रेत के भय, विकार, काम-वासनाएँ, क्रोध, ईद्या, मोह इत्यादि भरे पड़े रहते हैं।

स्वास्थ्य से पवित्र विचार आते हैं, मन प्रसन्न और शुभ कल्पनाओं, मधुर विचारों से परिपूर्ण रहता है। काम में जी लगता है, आलस्य या उदासी नहीं सताती। हृदय मुस्क्राते हुए पुष्पों को देखकर पुलकित होता है, चमचमाते हुए

तारक-वृन्द को देखकर चमचमाता है। हम प्राकृतिक दृश्यों को देखकर मोहित हो जाते हैं। प्रकृति का सन्देश हमें हर फूल, पत्ती और पुष्प सुनाता है।

स्वास्थ्य स्वाभाविक है—

यदि आप प्रकृति के नियमों का अतिक्रमण न करें, प्रकृति के परिवार के अन्य सदस्यों की भाँति सच्चाई और ईमानदारी से उनका पालन करते रहें, तो स्वाभाविक रूप से आप अपनी पूरी आयु का आनन्द ले सकेंगे। प्रकृति ने आपको बहुत उच्चकोटि का जीव बनाया है। प्रसन्नता का स्रोत आपके हृदय में प्रवाहित होना चाहिए। आनन्द से आपका निकट सम्बन्ध होना अनिवार्य है। यदि आप प्रकृति के निकट रह सकें, तो निश्चय जानिये आपका स्वभाव सदैव शान्त और गंभीर रहेगा, आपका हृदय आन्तरिक आळाद से भरा रहेगा और आप जीवन का स्वर्गीय आनन्द लूट सकेंगे।

स्वामी शिवानन्दजी के शब्दों में “प्रकृति का स्वभाव अत्यन्त कठोर और दयालु है। वह अत्यन्त न्याय प्रिय है, न्याय में वह क्षमा नहीं करना जानती। सदाचारियों के लिए प्रकृति परम प्यारी माता है और दुराचारियों के लिए वह पूरी राक्षसी है। वह स्वयं राक्षसी कदापि नहीं है। वह परम दयालु जगन्माता है। केवल दुराचारियों को (जो प्रकृति के नियम तोड़कर अस्वाभाविक जीवन व्यतीत करते हैं) वह राक्षसी प्रतीत होती है। दण्ड में भी प्रकृति हमें सुधारने का काम करती है। ठोकर खाने पर ही मनुष्य सावधान होता है।”

प्रकृति तत्व से हमारी अनभिज्ञता के दुष्परिणाम

आज दर्वाई का इतना प्रचार हमारे अप्राकृतिक जीवन का धोतक है। पहिले तो हम प्रकृति के नियमों को तोड़ते हैं। जब प्रकृति हमें रोग रूप से सजा देती है, तो हम तरह-तरह की दवाइयाँ खाते हैं। इस प्रकार क्या युवक और क्या युवतियाँ रसातल के मार्ग में जा ही रहे हैं। गुप्त रोगों, मूत्र रोगों तथा अन्य निन्दनीय रोगों की संख्या दिन प्रतिदिन वृद्धि पर है। हमारा भोजन अप्राकृतिक हो चला है, हमारी ख्वाइश अस्वाभाविक हो चली है। हम दिन में सोते और रात में सिनेमा, होटलों, नाचघरों में मजेदारियाँ करते फिरते हैं। अप्राकृतिक रोशनी में पढ़ते लिखते हैं और असमय ही नेत्र रोगों से पीड़ित हो जाते हैं। अतिगर्म चाय और अति शीतल बर्फदार शर्बत या सोडालेमन पीकर हम दन्त रोगों के

शिकार बनते हैं। आज के नब्बे प्रतिशत फैशन-परस्त नवयुवक नेत्र और दन्त रोगों से पीड़ित हैं। अस्वाभाविक मैथुन, वीर्यपात और व्यभिचार के चक्र में फँसे हुए नवयुवकों की संख्या का पता हमें गुप्त रोगों के बढ़ते हुए विज्ञापनों और चिकित्सकों से लगता है।

अप्राकृतिक रीतियों से कच्ची आयु में वीर्यपात का दुष्परिणाम बड़ा भयंकर होता है, शरीर जर्जर होता है, युवक भी वृद्ध सा दिखता है। भले ही हम कितने ही चालाकी से पाप करें; किन्तु प्रकृति बड़ी सतर्कता से सब कुछ देखती है। उसके दरबार में माफी नहीं है। क्या बड़ा, क्या छोटा सभी को वह समान रूप से दण्ड देती है। उसकी आँखों को आप धोखा नहीं दे सकते, प्रत्येक नीच कर्म के लिए सजा का विधान है। शिवानंद जी ने कहा है— ‘प्रकृति माता अपने हाथ में डंडा लिए, तुम्हारे मर्मस्थानों पर कठोर डंडा प्रहार करने के लिए तैयार रहती है। ज्यों-ज्यों तुम वीर्य नाश करोगे त्यों-त्यों वह तुम्हे मारते—मारते बेदम व अधमरा कर देगी। तब भी यदि न चेतोगे या सुधरोगे तब अंत में तुम्हारा इंतजार करती हुई मृत्यु की ओर तुम्हें सड़े फल की तरह फेंक देगी, तुम्हें उटाकर नरक कुण्ड में डाल देगी। भाइयों! लौटो प्रकृति की शरण में आओ। वह परम दयालु है। तुम्हारा अवश्य सुधार करेगी।’

प्रकृति और दीर्घ जीवन

विश्वास रखिये प्रकृति के नियम पालन करने से रोगी व्यक्ति पुनः स्वास्थ्य और आरोग्य प्राप्त कर सकता है, दुबले-पतले जर्जरित शरीर पुनः हृष्ट-पुष्ट और सशक्त बन सकते हैं। जो कार्य पौष्टिक दवाइयाँ भी नहीं कर सकतीं, वह प्रकृति के नियमानुसार रहने से अनायास ही प्राप्त हो सकता है। वेदों में निर्देश किया गया है—

“कुर्वन्नेवे ह कर्मणि जिजीविषेच्छतंसमाः।”

(यजु. ४०।२)

अर्थात् काम करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए।

“पश्येम शरदः शतं

जीवेन शरदः शतं

शृणुयाम शरदः शतं

प्रब्रवाम शरदः शतं
अदीनःस्याम शरदः शतं
भूयश्च शरदः शतं'

(यजु. ३६। २४)

हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवें, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक समृद्धिशाली रहें।

उपरोक्त कथन में हमारे पूर्व पुरुषों ने यह माना है कि यदि हम सद्याई से प्राकृतिक नियमों का पालन करें और उनके अनुसार प्राकृतिक जीवन व्यतीत करें तो हमें अपनी पूरी आयु (अर्थात् सौ वर्ष) तक जीने का अधिकार है और यदि पुरुषार्थ करें तो हमें इससे भी अधिक जीना चाहिए।

यदि प्राकृतिक जीवन अपनाया जाय तो सौ वर्ष तक जीवित रहना कोई बड़ी बात नहीं। हमारे पूर्व पुरुष ऋषि मुनि इत्यादि प्रकृति के पुण्य प्रताप से बड़ी-बड़ी उम्रों वाले हुए हैं। श्री संदेश के इतिहास में उल्लेख है—“भारत में एक सौ चालीस वर्ष आयु तक कई व्यक्ति जीते हैं, सौ वर्ष से ऊपर के मनुष्य को एक निराला नाम देने में आता है।” यह लेख आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व का है।

प्रकृति के प्रताप से दीर्घ जीवन प्राप्त करने वालों के शुभ नाम और आयु देखिये— यूरोप में थामसपार १५२ वर्ष, हेनरी जेन्किन्स १६९ वर्ष, इजाक १८० वर्ष, शेखसादी १०२ वर्ष, कवि अवारी ११४ वर्ष, महाराष्ट्र में निजामउल्मुक्ल १०५ वर्ष, मल्हारी घनगर ११५ वर्ष, पं० प्रभाकर शास्त्री १०९ वर्ष, रामसेठी भुरकी सुनार १०५ वर्ष, हरद्वार रामलाल १०५ वर्ष।

यदि स्वाभाविक रीति से हम जीते चलें प्रकृति के नियमों का पालन करते चलें, तो आयु क्षीण न होंगी। दीर्घायु प्राप्त करने के लिए प्राकृतिक नियमों का पालन अत्यन्त आवश्यक है।

॥ तृतीय अध्याय ॥

जीव का प्रकृति से सम्बन्ध

पिछले कुछ सौ वर्षों से योरोप में भौतिकवाद का जोर बढ़ रहा है और उसने इस लहर को समस्त संसार में फैला दिया है। आज हमको अपने देश के भी अधिकांश लोगों में जो भोगवाद, फैशनपरस्ती की बड़ी हुई प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है, उसका मूल कारण योरोप के उपर्युक्त सिद्धान्तों का ही प्रभाव है। पर जब भोगवाद के हानिकारक परिणाम दिखलाई पड़ने लगे, तो योरोप के ही अनेक लोग उसके विरुद्ध हो गये और उन्होंने ‘प्रकृतिवाद’ का नारा लगाया। इस लेख के लेखक इन्हीं विचारों के एक व्यक्ति हैं और उन्होंने ‘प्रकृति की ओर जौटो’ नामक पुस्तक लिखी है। इसमें भौतिकवाद के विरोध और संसार में फैले हुए कष्टों के सम्बन्ध में निम्नलिखित दलीलें दी हैं—

(१) आरम्भ में मनुष्य रोग, द्वेष, दुःख, दारिद्र्य से मुक्त था। न वह पापी था, न रोगी। वह विशुद्ध था और ईश्वरीय तेज उसमें विद्यमान था।

(२) वह अपने कसूर से पतित हुआ। वह अपनी अयोग्यता से उन्नति न कर सका, उल्टा उसने अपराधों की वृद्धि की, जिससे उसे रोग, शोक, दुःख, एवं दरिद्रता ने आ घेरा। विषय-वासना से उत्पन्न हुई गुलामी से उसकी दुर्गति हो गई।

(३) विज्ञान वेदम है। भूकम्प आने के पहले पशु-पक्षी भाग जाते हैं, पर मनुष्य को खबर नहीं होती। विज्ञानवादियों की मशीन भी एक बार कुछ खबर न पा सकी और भूकम्प आ गया।

(४) बीमारी पाप है। यदि संसार में पाप न हो, तो बीमारी भी न हो। यह मानी हुई बात है कि मानसिक विकार, खुदगर्जी, अभिमान, ईर्ष्या, द्वेष, अनुदारता और क्रोध आदि का भयंकर असर शरीर पर पड़ता है।

(५) मनुष्य के पापों का असर समस्त प्रकृति को दूषित कर देता है।

(६) क्या कभी किसी ने विचार किया है कि हम क्यों जीते हैं, हमारे जीवन का क्या उद्देश्य है? हम क्यों मरते हैं, संसार का मुख्य प्रयोजन क्या है? परलोक क्या है?

(७) कला-कौशल और व्यापार ने उत्तरोत्तर इन बातों का ध्यान भुला दिया है। नवीन आविष्कारों ने संसार को उलट दिया है। मनुष्य की दौड़-धूप